Variorum, Multi- Disciplinary e-Research Journal
Vol.-01, Issue-IV, May 2011

भक्ति काल के सामाजिक सरोकार

डॉ. उषा मिश्रा : श्रीमती एम. पी. शाह वुमेन्स कॉलेज, माटुंगा, मुम्बई

भक्ति काल को यदि हम कबीर से लेकर मीरा तक मानते हैं तो यह समय सं. १४५५/५६ से लेकर १६०३ तक का कहा जा सकता है। और यदि काल विभाजन की दृष्टि से देखते हैं तो १३७५-१७०० तक को भक्ति काल माना गया है। और यह काल विभाजन की दृष्टि से बड़ा उथल-पुथल का समय रहा है। जिसमें दिल्ली पर तुगलक, लोदी, तैमुर और मुगलों में जहाँगीर का राज था। इतिहास गवाह है कि इन शासकों में साम्राज्य लिप्सा की भावना सबसे अधिक थी। तो यह भी सच ही है कि इनकी साम्राज्य लिप्सा, धर्मान्धता और विलासिता के कारण भारत की जनता पर संकट रूपी बादल मँडराए होंगे। निश्चित है भारतीय जनता की निराशा, दरिद्रता, अशांति और अपमान अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गयी होगी। कहा तो यह भी जाता है कि आम जनों के घरों में सोने-चांदी की बात तो दूर तांबे, पीतल, लोहे तक का रहना सुल्तानों को खटकने लगा था। अपने ही देश में हिन्दू अनाथ बन गये थे। अत: उनके मन में शासक वर्ग के प्रति घृणा, वैर-भाव पनपना स्वाभाविक था। ऐसे में यदि इस काल को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम माना गया तो वह भी स्वाभाविक है।

अब गौर करने की बात तो यह है कि इसी युग की देन के रूप में कबीर, जायसी, तुलसी और सूर हैं। यहाँ जायसी को मैं भक्त नहीं मान रही हूँ। तो बचते हैं तीन। इनके साथ ही दादू दयाल, रैदास, गुरूनानक, मीरा, रसखान तथा और भी अनेक नाम है जो स्वयं में उतना ही महत्व रखते हैं। इन सबकी वाणी यदि पराजित मनोवृत्ति का परिणाम है तो मैं चाहूँगी कि ऐसे लोग आज के युग में भी हों। कम-से-कम हम उन तथाकथित मठाधीशों संतो से तो बचेंगे जो पाँच सितारा सुविधाओं के साथ कभी टी. वी. स्क्रीन के माध्यम से तो कभी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हमारे घरों में, दिल और दिमाग पर आ धमकते हैं। जिनकी कथनी और करनी में कोई ताल-मेल नहीं होता है।

मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी इस बात से सभी सहमत होंगे कि जब मनुष्य परेशान होता है तो वह ईश्वर की शरण में जाता है। वह निर्गुण रूप में जाता है या किसी मन्दिर, मस्जिद में आसन लगाता है, यह बात दीगर है। तब हमें न तो डार्विन का क्रमिक विकास वाद दिखायी देता है न सात्र का अस्तित्व वाद और न ही मार्क्स का मानववाद। ऐसे में हमारे भक्ति कालीन, इन्हें हम भक्त कहें, संत कहें या कवि कहें, जिस भी नाम से पुकारे, इन्होंने अपने आराध्य के प्रति समपर्ण भाव तो रखा ही साथ में युगीन घात प्रतिघातों पर अपनी पैनी दृष्टि रखी। जन सामान्य की पीड़ा को वाणी दी। कबीर की रचनाओं में हमें भारत की अछूत कही जाने वाली जातियों की पीड़ा और आक्रोश की अभिव्यक्ति की गूँज सुनायी देती है। संत कवियों ने हिन्दू-मुसलमानों में बढ़ती हुई खाई को दूर करने के लिए सामाजिक एकता का भाव जगाया जिसमें धर्म-भेद, जाति-भेद और वर्ण-भेद के लिए कोई स्थान नहीं

ISSN 0976-9714

www.gnrws.in

Variorum, Multi- Disciplinary e-Research Journal
Vol.-01, Issue-IV, May 2011

था। धर्म को उन्होंने सामाजिक संघर्ष का प्रमुख कारण माना। ऐसी बातों का विरोध करते हुए दादू दयाल कहते है।

दादू हिन्दू मारग कहै हमारा तुरक कहै रह मेरी,
कहाँ पथ है कहौ अलह का तुम तो ऐसी हेरी।

संत पलटूसाहब तो बहुत ही स्पष्ट और तर्कयुक्त बात करते हुए कहते है –

ब्राह्मन तो भये जनेऊ को पहिरि के, ब्राह्मनी के गले कुछ नहीं देखा।
सेख की सुन्नति से मुसलमानी भई, सेखानी को नाही तुम कहो सेखा।।

अर्थात तुम तो जनेऊ पहनकर ब्राह्मण बन बैठे हो लेकिन तुम्हारी पत्नी के गले में तो कोई जनेऊ नहीं है। अर्थात वह आधी शुद्रा के रूप में तुम्हारे घर में रहती है। इसी तरह इस्लामी धर्मान्धों को फटकारते हुए कहा कि तुम तो सुन्नत करवाकर मुसलमान बन गये लेकिन तुम्हारी पत्नी तो आधी हिन्दू ही रह गयी क्योंकि उसकी सुन्नत असंभव है।

दादू दयाल ने दोनों धर्मावलम्बियों को भारत माँ के हाथ-पैर, नैन और दो कान बताया है –

दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान,
दोनों भाई नैन है, हिन्दू-मुसलमान।

इन संतो को हिन्दू के हिन्दुत्व और मुसलमानों के इस्लाम से कोई विरोध नहीं था ये तो हिन्दू मुसलमानों के बीच चलते हुए अर्थहीन संघर्ष के परिणाम स्वरूप उत्पन्न सामाजिक अशान्ति को दूर करने का प्रयास कर रहे थे। इनका संवेदनशील ह्रदय मानव-मानव के बीच बढ़ती दूरी से संतप्त था जिसके फलस्वरूप इनकी वाणी से ऐसी अमृत धारा बही जिसने इस दूरी को पाटने में काफी हद तक सफलता पायी। उस समय धर्म ही नहीं वर्ण-व्यवस्था भी साँप की तरह कुंडली मारकर बैठी थी ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त अनेक अन्य अस्पृश्य जातियाँ बन गयी थी। इस सामाजिक जाति-भेद की कठोरता का सामना अधिकांश संत कवियों ने स्वयं किया था। जैसा कि हम सभी जानते है कि नामदेव-दर्जी, कबीर-जुलाहा, रैदास-चमार और दादू दयाल-धुनिया थे। इसलिए ये निडरता पूर्वक एक विशेष अन्दाज सें समाज के ठेकेदारों पर बरसे। अशपृश्यता का जो एक महारोग देश को लगा था उसपर कबीर का कथन देखिए –

काहे को कीजै पांडे छोति विचारा । छोति हितै उतपना सब संसारा ।।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध। तुम कैसे ब्राह्मन पांडे हम कैसे सूद ।।
छोति छोति करता, तुम्हे ही जाए । तो गर्भवास कहे कौं आए ?

जाति-पाति को नकारते हुए गुरूनानक कहते है –

जाणहु जोति न पूछहू जाति, आगे जाति न है।

ISSN 0976-9714

www.gnrws.in

Variorum, Multi- Disciplinary e-Research Journal
Vol.-01, Issue-IV, May 2011

अर्थात मनुष्य मात्र में स्थिति ज्योति मूल को जानौ और जाति-पाति के चक्कर में न पड़ो। कबीर ने भी यही बात कही है –

जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान । मोल करो तरवार का पड़ा रहन दो म्याँन।

आत्मिक संतुष्टि के साथ सामाजिक विकास में बहुत बड़ी भूमिका निभाता है संतोष का भाव। पूर्वमध्यकाल तो पूरी तरह से साम्राज्य विस्तार और धन लोलुपता का था जिसके कारण अशांति ही अशान्ति थी आज भी हम उसी दौर से गुजर रहे हैं। हर साल फोर्ब्स जैसी पत्रिकाएँ वैश्विक स्तर पर धनियों की रेटिंग करती है, और परिणाम हम देख रहे हैं कि चारों तरफ आपाधापी मची है। येन, केन, प्रकारेण बहुत कुछ या सब कुछ पा जाने की इच्छा बलवती होती जा रही है। नैतिकता, सदाचार हमारे लिए कोई मायने नहीं रखता। ऐसे में उन संतों ने कितनी सटीक बात कही है –

दादू सौ धन लीजिए, जै तुम सेती होइ ।
माया बांधे कोई मुए, पूरा पड़या न कोई।।

कबीर ने भी तो यही बात कही है –

साई इतना दीजि। जामे कुटुम समाय,

इसी संदर्भ में गिरिधर की उक्ति देखिए –

गोधन गजधन बाजि धन और रतन धन खानि।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान ।।

सहजो बाई कहती हैं कि धन मनुष्य को इतना स्वार्थी बना देता है कि वह भगवान भक्ति भी धन के लिए करता है

द्रव्य हेतु हरि कूँ भजे, हरिहि की परतीति ।
स्वारथ से सब सूँमिले, अन्तर की नहि प्रीत ।।

संत कवियों ने अपने समाज में फैली कुरीतियों, आडम्बरों, ढोंग तथा दिखावे का पुरजोर विरोध किया है। संत साहित्य में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। मलूकदास का एक उदाहरण देखिए जहाँ उन्होंने ऐसे मांसाहारी मुसलमानों के बारे में कहा है जो बकरे का गला घोंटते समय कलमा पढ़ते हैं और दिल में रहने वाले मुर्शिद को ढूँढ़ने के लिए यहाँ-वहाँ भटकते हैं।

कहै मलूक अब कजा न करिहों, दिल ही सो दिल लाया।
मक्का हज्ज हिय में देखा, पूरा मुरशिद पाया।।

इस काल के लगभग सभी संतों ने सत्संगति, दया भाव, विनय, प्रेम भाव पर बहुत शाश्वत बातें कही हैं। यहाँ समझने की बात यह है कि सभी भक्त कवियों का लक्ष्य था ईश्वर की प्राप्ति और

www.ghrws.in

Variorum, Multi- Disciplinary e-Research Journal
Vol.-01, Issue-IV, May 2011

बिखरे हुए समाज को जोड़ना । समाज में फली हुई कुरीतियों को अपनी ओजपूर्ण वाणी से दूर करना । इसमें उन्हें सफलता भी मिली ऐसा हम मान सकते हैं।

तुलसीदास का युग यद्यपि वैभव का युग था। परन्तु सामान्य जनता की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। वह सत्ताधारी वर्ग के अत्याचारों की शिकार थी। शासक वर्ग साम्राज्य-विस्तार-लिप्सा के चलते निरन्तर युध्द में लगा रहता था। सर्वमान्य परम्पराएँ नष्ट हो रही थी, अराजकता फैली हुई थी, जनता किंकर्त्तव्यविमूढ़ होती जा रही थी। बाह्य कर्म काण्ड का बोलबाला था। धर्म विकृत रूप धारण करने लगा था। ऐसे समय में तुलसी ने जनता को ऐसा सम्बल दिया, जिसमें शील, शक्ति और सौंन्दर्य तीनों का अद्‌भुत समन्वय था। एक तरह से गीता के कृष्ण की पुनरावृत्ति हुई -

जब-जब होहि धरम की हानि। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।।
तब-तब धरि प्रभु मनुज सरीरा । हरहिं सकल सज्जन भवपीरा ।।

और स्वान्तः सुखाय के लिए लिखा गया मानस परिजन हिताय बन गया । तुलसी अपना उद्देश्य भी स्पष्ट करते हैं

राम कथा गिरिजा मैं बरनी । कलिमन समनि मनोमल हरनी।

अर्थात् कलियुग की बुराइयों का नाश करना और मनोमल को दूर करना । इतना ही नही तुलसी आगे लिखते हैं कि जो भी इस कथा को विश्वास पूर्वक पढ़ना है उसे मुनि दुर्लभ भक्ति मिल जाती है –

मुनि दुर्लक्ष हरि भगति नर पावहिं बिनहि प्रयास ।
जे यह कथा निरन्तर सुनहिं मानि विश्वास ।।

तुलसी के समय में एक साथ कई क्षेत्रों में विरोधी बाते हो रही थी। एक तरफ शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में वैषम्य था तो दूसरी तरफ दार्शनिक माया जाल फैला था। एक तरफ ज्ञान, भक्ति और कर्म का अलग-अलग राग अलापा जा रहा था तो दूसरी तरफ लोक में मर्यादा का अभाव हो गया था। तुलसीदास यह जानते थे कि जब तक लोक मर्यादा नहीं होगी तब तक जन कल्याण असम्भव है। अतः उन्होंने मर्यादा पुरूषोत्तम राम को जन समक्ष रखा। नैतिक और सामाजिक पतन के दौर में उन्होंने मानस की रचना कर एक आदर्श परिवार और राज्य की कल्पना की। यहाँ एक बात और देखने की आवश्यकता है कि कबीर निवृत मार्ग की ओर अधिक झुके तो सूर पूर्णतः प्रवृति मार्गी हुए जबकि तुलसी निवृति द्वारा अनुशासित ग्रहस्थ (प्रवृत्ति मार्गी) है। अतः कहा जा सकता है कि तुलसी को जितनी लोक की चिन्ता थी उतनी कबीर और सूर को नहीं। क्योंकि कबीर ने वैराग्य के कारण जन पर प्रहार किया है तो सूर प्रवृत्ति के कारण लोक को त्याग कर लीला के क्षेत्र में चले गये। लेकिन तुलसी में जन और जीवन के प्रति साधारण दृष्टि है।

ISSN 0976-9714

www.gnrws.in

Variorum, Multi- Disciplinary e-Research Journal
Vol.-01, Issue-IV, May 2011

कबीर ने अस्पृश्य कही जानेवाली जाति को वाणी दी है तो तुलसी का आन्दोलन उदार ब्राह्मण आन्दोलन है जबकि सूर की गोपियाँ, कृष्ण, वृंदावन तथा नंद-यशोदा आदि के चरित्र में भारत के मध्यवर्गी यादव जाति का प्रभाव है। जो गोपालन और कृषिकर्म भी करती थी और मौका मिलने पर राज भी करती थी। कबीर योग मार्गी है जबकि तुलसी और सूर दोनों योगमार्ग के विरोधी है। परन्तु पूरे युग की सम्पूर्ण साधना में शूद्र विरोध नहीं है। यहाँ कोई भक्ति के क्षेत्र में समानता की बात करता है तो कोई सामाजिक व्यवहार में। तुलसीदास ने अपने मानस में भले ही शम्बूक शूद्र की कथा का चित्रण नहीं किया है । भले ही वर्णाश्रम व्यवस्था है परन्तु शूद्र के प्रति अवमानना का भाव नहीं है। यह युग अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है। तभी तो चर्मकार रैदास मीरा के गुरू बन गये।

नारी को लेकर सभी भक्त कवियों की दृष्टि में अन्तर है। मोटे तौर पर सभी को नारी विरोधी माना गया है। मुझे लगता है ऐसा कहना इनके प्रति अन्याय होगा। क्योंकि कबीर एक ओर नारी को माया महाठगिनी मानते हैं, त्याज्य मानते हैं। तो दूसरी तरफ कबीर की एन पंक्तियों को हमें नहीं भूलना चाहिए, जहाँ वे कहते हैं –

पतिव्रता मैली भई, काली कुचित कुरूप
पतिव्रता के रूप पर वारो कोटि सरूप।

दरिया साहब (मारवाड़वाले) कहते हैं कि नारी तो अखिल विश्व की माँ है । वह पुरूष को पाल-पोस कर बड़ा बनाती है, उसे जीने योग्य बनाती है –

नारी जननी जगत की, पाल पोस दे पोष।
मूरख राम-बिसार कर, ताहिं लगावैं दोष ।।

इसी तरह की बात तुलसी को लेकर भी की जाती है । उन्होंने भी नारी को माय कहा है –

तिन्ह मँह अति दारून दुखद माया रूपी नारि।

या जहाँ उन्होंने स्त्री को झगड़े और मृत्यु की जड़ कहा है –

जनम पत्रिका बरति के देखहुँ मनहि बिचारि।
दारून बैरी मीचु के बीच विराजत नारि ।।

वहीं तुलसी ने सामाजिक जीवन में नारी की पराधीनता से क्षुब्ध होकर पार्वती माँ से कहलवाया है –

कत विधि सृजी नारि जग माहीं । पराधीन सपनेहुँ सुख नाही।

अगर इस बात को सच मानें कि तुलसी ने 'विनय पत्रिका' में निम्न दोहा मीरा के लिए लिखा था कि-

जाके प्रिय न राम वैदेही।

ISSN 0976-9714

www.gnrws.in

Variorum, Multi- Disciplinary e-Research Journal
Vol.-01, Issue-IV, May 2011

तजिय ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

तो इसका मतलब यही है कि वे भक्ति के लिए नारी को अयोग्य नहीं मानते थे। इतना ही नहीं उन्होंने एक राजमहिला को पारिवारिक, सामाजिक विद्रोह के लिए प्रेरित भी किया। इस परिप्रेक्ष्य में जब हम सूर को देखते हैं तो उनका नारी सम्बन्धी दृष्टिकोन इन दोनों भक्तों से बिल्कुल भिन्न है। सूर की साधना में नारी मुख्य है। कृष्ण के भक्त यद्यपि स्त्री और पुरुष दोनों है लेकिन राधा और गोपियों की भक्ति सर्वोपरि है । यहाँ नारी न तो त्याज्य है और न ही विकार। सूर ने नन्द और यशोदा के माध्यम से पारिवारिक जीवन में बच्चों की जिस सामाजिक स्थिति का परिचय दिया है वह पूरे मध्यकाल में अनोखा और अकेला है। उसमें आंचलिक और जातीय सामाजिकता का एक भिन्न रूप दिखायी देता है। यहाँ न तो वैराग्य का रूखापन है और न ही कानून नियम की मर्यादाएँ। राग की अधिकता के कारण गोपियाँ घर तो छोड़ देती है। परन्तु उनका घर छोड़ना वैरागियों और ज्ञान मार्गियों के घर छोड़ने जैसा नहीं है। सूर के काव्य में ग्रामीण और गोचारण जीवन का खुलापन ही नहीं है अपितु राधा गोपी प्रेम भी खुला, अकुंठित और स्वच्छन्द है।

इस कड़ी में रैदास और मीरा का भी अपना अलग महत्व है। रैदास का जन्म चमार के घर हुआ, परन्तु यदा-कदा स्वयं को चमार कह देने के अलावा और कोई आक्रोश रैदास ने नहीं व्यक्त किया है। जहाँ तक मीरा की बात करें तो उन्होंने भी राजसी दीवार में बँधी नारी की विवशता के प्रति विद्रोह किया है –

छाँड़ि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई।
संतन ठिग बैठी, लोक लाज खोई।।

यहाँ पर मीरा का विद्रोह स्पष्ट है जहाँ वे कहती है 'कहा करिहै कोई।' मीरा ने सामाजिक बंधनों के प्रति तो विद्रोह किया ही है नारी सुलभ अलंकरणों को भी त्याग दिया । वे तो इतना तक कहती है –

चुरियाँ फोरूँ माँग बकेरूँ, कजरा में डारूँ धोई री।
संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मीरा की मुक्ति नारी मुक्ति का प्रयत्न है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल के सभी भक्त युगीन सामाजिक सरोकारों से जुड़े हुए थे। हम आधुनिक दृष्टि के तहत उनकी आलोचना कर सकते हैं कई मुद्दों को लेकर। परन्तु उसके साथ हमें उस युग की स्थितियों पर भी नजर डालनी होगी । उस संदर्भ से भी जुडना होगा जिसे ध्यान में रखकर बात कही गयी है

संदर्भ ग्रंथ :-

१.हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, (प्रथम खण्ड)गणपति चंद्र गुप्त

ISSN 0976-9714

www.gnrws.in

Variorum, Multi- Disciplinary e-Research Journal
Vol.-01, Issue-IV, May 2011

२.हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ. जयकिशन खण्डेलवाल

३.हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र

www.ghrws.in

ISSN 0976-9714